# उपनिषदों का जैन तत्त्वज्ञान पर प्रभाव : एक समीक्षा

**(‘विश्वशान्ति एवं अहिंसा’ इस विषय पर, कर्नाटक विश्वविद्यालय (धारवाड) के संस्कृत विभागद्वारा आयोजित राष्ट्रीय चर्चासत्र में (२२–२३ फेब्रुवारी २०१३) प्रस्तुत किया जानेवाला शोधनिबन्ध)**


**विषय व मार्गदर्शन –:** डॉ. नलिनी जोशी
(प्राध्यापिका, जैन अध्यासन, पुणे विद्यापीठ)
**शोधछात्रा –:** डॉ. अनीता बोथरा.
(संशोधक सहायिका, जैन अध्यासन, पुणे विद्यापीठ)

**घर का पता :**
डॉ. अनीता सुधीर बोथरा
प्लॉट नंबर ४४, लेन नंबर ८,
ऋतुराज सोसायटी,
पुणे ४११०३७


**दिनांक :** १२/०२/२०१३

**शोधनिबन्ध के शीर्षक में निहित गृहीतक :**

तौलनिक दृष्टि से जैनविद्या का अभ्यास करनेवाले संशोधकों के मस्तिष्क में प्राय: विचारों के तीन प्रारूप पाये जाते हैं ।

**१)** वैदिक या ब्राह्मण परम्परा से श्रमण परम्परा की अलगता दिखाने के लिए ‘बौद्ध’ और ‘जैन’– इस प्रकार की पदावलि उपयोजित की जाती है । इसमें अन्तर्भूत है कि जो जो बौद्धों ने किया वहीं जैनों ने किया । दूसरी बात यह कि जैन परम्परा बहुत ही प्राचीन होने पर भी हमेशा बौद्धों का उल्लेख प्रथम और जैनों का बाद में किया जाता है ।

**२)** दूसरा प्रारूप यह है कि वैदिक या हिन्दु परम्परा को बहुत ही परिवर्तनशील, समय के अनुरूप ढलनेवाली एवं लचीली होने के तौर पर माना गया है । जैनियों के समयानुसारी परिवर्तन कई बार दुर्लक्षित किये गये हैं ।

**३)** तीसरा महत्त्वपूर्ण प्रारूप यह है कि प्रभाव की दिशा हमेशा वैदिक या हिन्दुओं से शुरू होती है और प्रभावित होनेवाले हमेशा जैन ही होते हैं । यही प्रारूप मन में रखकर शोधनिबन्ध का विषय दिया गया है ।

‘‘उपनिषदों में निहित विचार पूर्वकालीन और बहुतही प्रभावी हैं और जैन परम्परा में, विशेषत: तत्त्वज्ञान में मानों उपनिषदों को ही आकर ग्रन्थ मानकर महत्त्वपूर्ण विचार चयनित किये हैं’’–यह भावार्थ शोधनिबन्ध के शीर्षक में समाहित है । इस गृहीतक की विविध पहलुओं से समीक्षा करना इस शोधनिबन्ध का उद्देश्य है ।

**तुलना के विभिन्न आधार :**

इस शोधनिबन्ध के शीर्षक में उपनिषद और जैन तत्त्वज्ञान की तुलना करना अपेक्षित है । लेकिन तुलना के लिए सचमुच उनमें विषय, शैली, काल आदि दृष्टि से साम्य होना आवश्यक है । यहाँ हम स्पष्ट करते हैं कि उपनिषद विभिन्न ऋषियों द्वारा विभिन्न काल में, प्रकट की हुई विविधतापूर्ण विचारधाराएँ हैं । माना गया है कि छह वैदिक दर्शनों का वे मूलाधार हैं । जैनदर्शन की अगर बात करें तो तत्त्वार्थसूत्र यह संस्कृत सूत्रबद्ध प्रमाणित ग्रन्थ है । उसमें वाङ्मयीन अंश पाये नहीं जाते । तत्त्वार्थ जिस पर आधारित हैं, वे ग्रन्थ हैं अर्धमागधी और शौरसेनी भाषा में निबद्ध आगमग्रन्थ ! वे प्राचीन हैं और उनमें तत्त्वज्ञान, आचार, संवाद आदि सब प्राय: संमिश्र स्वरूप में प्रस्तुत किया गया है । अगर तुलना करनी ही है तो आगम और उपनिषदों की करनी चाहिए ।

**शैलीगत साम्य :**

अगर हम प्राचीनतम अर्धमागधी-ग्रन्थ 'आचारांगसूत्र' पढे तो निम्नप्रकारक कई वाक्य उसमें पाये जाते हैं । 'लोकसार' अध्ययन में 'आत्मा' के बारे में कहा है -

सव्वे सरा णियट्टंति । तक्का जत्थ ण विज्जइ । मई तत्थ ण गाहिया । से ण दीहे, ण हस्से -- । ण किण्हे, ण णीले --- । ण सुब्भिगंधे, ण दुरभिगंधे । ण तित्ते, ण कडुए --- । ण कक्खडे, ण मउए --- । ण काऊ । ण रुहे । ण संगे । ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अण्णहा । परिण्णे सण्णे । उवमा ण विज्जए । अरूवी सत्ता । से ण सद्दे, ण रूवे, ण गंधे, ण रसे, ण फासे, इच्चेताव ।[१]

प्राय: यही 'आत्मवर्णन' प्रमुखता से कठोपनिषद में पाया जाता है । यम-नचिकेत संवाद में आत्मा के बारे में कहा है कि - नैषा तर्केण मतिरापनेया । --- अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो । अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्चयत् ।[२]

हम यह कह सकते हैं कि साक्षात्कारी महानुभावों ने किये हुए आत्मसम्बन्धी वर्णनों में साम्य तो अनिवार्य रूप से दिखायी देगा ही । केवल आत्मस्वरूप के ही नहीं किन्तु मोक्षवर्णन में भी प्राय: थोडी पारिभाषिक भिन्नता छोडकर समान अनुभूति ही अंकित की गयी है । परन्तु इस आधार से हम मूलगामी तत्त्वविचारों का साम्य नहीं सिद्ध कर सकते । एक-दूसरे का प्रभाव भी इसे माना नहीं जा सकता ।

प्राचीन अर्धमागधी आगम एवं उपनिषद इन दोनों में कई शैलीगत साम्य दिखायी देते हैं । उपनिषद एवं अर्धमागधी आगमों में प्राय: गुरु-शिष्य 'संवाद' के रूप में तत्त्वज्ञान प्रस्तुत किया गया है । यम-नचिकेत[३], इन्द्र-प्रजापति[४], याज्ञवल्क्य और उसकी पत्नी मैत्रेयी[५], आरुणी और उसका पुत्र श्वेतकेतु[६] आदि अनेक संवाद उपनिषदों में पाये जाते हैं । पूरी महावीरवाणी सुधर्मा और जम्बु के संवादरूप में

प्रस्तुत की गयी है । भगवतीसूत्र में रूढ मान्यता के अनुसार ३६००० प्रश्नोत्तर शब्दबद्ध किये गये हैं । राजप्रश्नीयसूत्र में निहित केशीकुमार श्रमण और राजा प्रदेशी का संवाद सुविख्यात है ।

जिस प्रकार उपनिषदों में गद्य, पद्य एवं गद्य-पद्य मिश्रित भाग दिखायी देते हैं वही तरीका जैन अर्धमागधी आगमों में भी पाया जाता है । दोनों के गद्यभाग की यह विशेषता है कि गद्य होने के बावजूद भी उसमें ध्वनि की दृष्टि से एक विशिष्ट 'लयबद्धता' की अनुभूति होती है । लयबद्धता के आचारांग सूत्र में निहित कुछ उदाहरण देखिए - नालं ते तव ताणाए, सरणाए वा । तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा, सरणाए वा ।[७] एस से परमारामो, जाओ लोगम्मि इत्थीओ ।[८] इसी प्रकार तैत्तिरीय और बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में भी लयबद्ध वाक्यों की रचना पायी जाती है । जैसे कि - यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति ।[९] असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय ।[१०]

'समीकरणात्मक गोल वृत्ताकार वाक्यरचना', अर्धमागधी आगम एवं उपनिषदों में समान रूप से देखी जा सकती है । जे गुणे से आवट्टे से गुणे । जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो ।[११] जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ । से सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ ।[१२] इसी प्रकार की वृत्ताकार रचना तैत्तिरीय आदि उपनिषदों में भी पायी जाती है । जैसे कि - प्राणो वा अन्नम् । शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम् । शरीरे प्राण: प्रतिष्ठित: । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् ।[१३] वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितं ।[१४]

'उपमा, दृष्टान्त एवं रूपकों की भरमार', उपनिषदों एवं उत्तराध्ययन, भगवती आराधना जैसे प्राचीन जैन आगमों की खासियत है । बृहदारण्यकोपनिषद में कहा है कि रथचक्र के आरे जिस प्रकार चक्र की नाभी में प्रतिष्ठित होते हैं उसी प्रकार जगत् के सब वस्तु जात, प्राणों में प्रतिष्ठित है ।[१५] यही उपमा भगवती आराधना[१६] में अहिंसा के लिए उपयोजित की गयी है । मुण्डकोपनिषद में ब्रह्म और स्थावर जंगम पदार्थों के लिए मकडी और उसके जाल की उपमा प्रस्तुत की गयी है ।[१७] भगवती आराधना में कहा है कि जैसे रेशम का कीडा अपने ही मुख से तार निकाल कर अपने को बाँधता है वैसे दुर्बुद्धि मनुष्य विषयरूप पाशों से खुद को बाँधता है ।[१८] कठोपनिषद में आत्मा के बारे में कहा है कि वह अणु से भी अणु है और महत् से भी महान है ।[१९] यही कल्पना प्राय: भगवती आराधना में अहिंसा के बारे में उपयोजित की गयी है । जैसे कि - णत्थि अणूदो अप्पं आयासादो अणूणयं णत्थि । जह जह जाण महल्लं ण वयमहिंसासमं अत्थि ।।[२०]

जैन और उपनिषदकालीन ऋषि दोनों भी द्रव्ययज्ञ के विरोधी होने के कारण दोनों में 'यज्ञसम्बन्धी रूपक' ही जादा तर पाये जाते हैं । उत्तराध्ययनसूत्र में हरकेशीय, इषुकारीय एवं यज्ञीय इन तीनों अध्ययनों

में यज्ञसम्बन्धी प्रतिकात्मक अर्थ बताये हैं ।[२१] छांदोग्य[२२], बृहदारण्यक[२३] आदि उपनिषदों में यज्ञीय विधि एवं यज्ञीय उपकरणों के नामों के प्रतिकात्मक अध्यात्मप्रधान अर्थ बताये गये हैं ।

यहाँ एक बात कहना अत्यन्त आवश्यक है कि शैलीगत साम्य केवल बहिरंग साम्य होता है । उस पर निर्भर होकर अगर हम उनके अन्तरंग साम्य की अपेक्षा करेंगे तो यह बहुत बडी गलतफहमी होगी । शैलीगत विशेषताएँ कई बार समकालीनता की वजह से भी आ सकती है । आत्मा एवं मोक्षवर्णन की प्रधानता तथा बाह्यशैलीगत साम्य देखकर हम कतई नहीं कह सकते कि, उपनिषदों का जैन तत्त्वज्ञान पर प्रभाव पडा है । अत: शोधनिबन्ध के अगले भाग में दोनों में पाये जानेवाले तात्त्विक एवं मूलगामी भेद हम अधोरेखित करेंगे ।

**उपनिषद संज्ञा में अन्तर्भूत 'गूढवाद' :**

उपनिषद शब्द 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक 'सद्' धातु में 'क्विप्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है । शांकरभाष्य में उपनिषद शब्द के तीन भिन्न-भिन्न अर्थ दिये हैं । उनमें से एक अर्थ है, 'रहस्य' अथवा 'गोपनीय विद्या' । अमरकोश में भी उपनिषद के 'रहस्य' अर्थ को मान्यता दी है ।

उपनिषदों में निहित गूढवाद 'कठ' जैसे अनेक उपनिषदों में स्पष्टत: से प्रतिपादित है ।

* हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।। तत्त्वं षूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।[२४]
* उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्त्वा त उपनिषद्ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ।।[२५]
* तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।[२६]
* ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।[२७]

सारांश उपनिषदों की ब्रह्मविद्या गूढवाद के वलय से वेष्टित है ।

जैन तत्त्वज्ञान बताने की रीति या पद्धति, इससे बिलकुल विपरीत है । समग्र विश्व के विश्लेषण पर आधारित जैन तत्त्वज्ञान सबके लिए खुला है । षड्द्रव्य, realities होने के कारण गूढवाद की कोई गुंजाईश नहीं है ।[२८] जीवतत्त्व षड्द्रव्यों में से ही एक है । संसार में वह शरीर के आश्रय से रहता है । इस विश्व में अनन्तानन्त जीव हैं । प्रत्येक में चेतनालक्षण जीव का अस्तित्व पाया जाता है । महावीरवाणी नाम से प्रसिद्ध, एक भी आगमग्रन्थ में, इस प्रकार का एक भी वाक्य नहीं पाया जाता कि, 'हे शिष्य ! मैं तुम्हें गूढ रहस्यमय ज्ञान दे रहा हूँ ।'

**उपनिषदों की प्रतिक्रियात्मकता :**

भारतीय विद्या के सभी अभ्यासक मान्य करते हैं कि आरम्भ में दैवतप्रधान एवं बाद में कर्मकाण्डप्रधान वैदिक साहित्य एवं आचरण की एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया बाद में आविष्कृत हुई, उसी

का नाम 'उपनिषद' है । उपनिषद का दूसरा नाम 'वेदान्त' भी है । स्पष्ट है कि कार्मकाण्ड का प्रतिक्रिया स्वरूप मौलिक ज्ञान उपनिषदों में निहित है । इसे 'ज्ञानकाण्ड' भी कहा जाता है । वैदिक एवं वेदोत्तरकालीन उसी परम्परा के कई ऋषियों ने आत्मा एवं ब्रह्मतत्त्व का चिन्तन करके तत्सम्बन्धी किये हुए विचार उपनिषद साहित्य में निहित है ।

निर्ग्रन्थ तत्त्वज्ञान प्रतिक्रियात्मक नहीं है । भ. पार्श्वनाथ का तत्त्वज्ञान प्राय: इस्वी के पूर्व आठवीं शताब्दी में प्रचलित था – यह बात अब सिद्ध हो चुकी है । उनके द्वारा प्रतिपादित निर्ग्रन्थ तत्त्वज्ञान में षड्द्रव्य, नवतत्त्व एवं कर्मसिद्धान्त स्पष्ट रूप में मौजूद थे । श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र एवं तप इनके यथायोग्य समन्वय के द्वारा ही मोक्षमार्ग की अवधारणा पायी जाती है ।[२९] मूल अवधारणाओं का विस्तार जैन साहित्य में अवश्य पाया जाता है लेकिन ये अवधारणाएँ नि:संशय मौलिक हैं, प्रतिक्रियात्मक नहीं हैं । इसी वजह से जैन तत्त्वज्ञान के मूलाधार खोजे नहीं जा सकते । इतना ही नहीं तो वेदों का प्रारम्भ जिस ऋग्वेद से हुआ उसमें भी जैन मूलतत्त्वों की अवधारणा छाया रूप से भी नहीं दिखायी देती ।

**उपनिषदों के मूलाधार वाक्यों की जैन दृष्टि से उपपत्ति :**

यह कहने में बिलकुल ही अत्युक्ति नहीं है कि प्राय: प्रमुख दस उपनिषदों में (और अन्यत्र भी) पुनरावृत्त चार लघुवाक्य, सभी उपनिषदों के मूलाधार हैं । वे निम्न प्रकार के हैं ।

१) सर्वं खलु इदं ब्रह्म । २) अयमात्मा ब्रह्म । ३) अहं ब्रह्मास्मि । ४) तत्त्वमसि ।[३०]

**१) सर्वं खलु इदं ब्रह्म :**

दृश्यमान जगत् में जो जो भी दिखायी देता है वह सब ब्रह्म है । इसमें ब्रह्मतत्त्व की विभुता वर्णित है । मतलब यह हुआ कि शरीर के अन्दर भी ब्रह्म है और बाहर भी ब्रह्म है । जैन दृष्टि से देखे तो यह स्पष्ट होता है कि अजीवतत्त्व की याने पुद्‌गलपरमाणु या matter की कुछ भी व्यवस्था इस चिद्‌वादी तत्त्वज्ञान में नहीं है । हरेक व्यक्ति मरणशील है । उपरोक्त सिद्धान्त के अनुसार मृत्यु के उपरान्त वह ब्रह्म में विलीन हो जायेगा । 'फिर विशिष्ट जीवों को किसके आधार से और किस प्रकार पुनर्जन्म प्राप्त होगा'–यह प्रश्न उपस्थित होता है । किसी भी उपनिषद में यह नहीं कहा है कि 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म ।', यह तत्त्व मोक्षगत जीव को ही उपयोजित है ।

जैन तत्त्वज्ञान की अवधारणा है कि संसार का प्रत्येक जीव स्वतन्त्र शरीर से युक्त है । मृत्युसमय में वह जीव परमाणुरूप शरीर का त्याग करता है । कार्मण शरीर उसके साथ ही रहता है । कार्मण शरीर में निहित आठ कर्मों की विशेषताएँ, उस जीव का पुनर्जन्म एवं सुख–दु:ख आदि तय करता है ।

**२) अयमात्मा ब्रह्म । ३) अहं ब्रह्मास्मि । :**

इन दोनों वाक्यों में जीवात्मा और परब्रह्म की एकरूपता का समीकरण बताया है । जैन दृष्टि से जीवात्मा के अतिरिक्त कोई विभु, स्वतन्त्र परमात्मा नहीं है । जैनधर्म ग्रन्थों में कभी-कभी आलंकारिक अर्थ से परमात्मा संज्ञा पायी जाती है । लेकिन यह अवधारणा है कि स्वपुरुषार्थ से आध्यात्मिक उन्नति करते करते, जीवात्मा जब विशुद्ध होती है तब उसे परमात्मा कहते हैं । एक जीव कभी भी दूसरी आत्मा में विलीन नहीं होता । इतना ही नहीं तो मुक्तजीवों का स्वतन्त्र अस्तित्व, सद् रूप से कायम रहता है ।

**४) तत्त्वमसि :**

इस उपनिषदवाक्य का मतलब है कि, 'तुम वही परब्रह्म तत्त्व हो ।' इस वाक्य की जैन उपपत्ति यह हो सकती है कि विश्व के सर्व जीवों में जीवत्व रूप से साम्य है । तथा प्रत्येक जीव में अर्थात् आत्मा में अनन्तज्ञान आदि चतुष्टय की क्षमता भी है । तथापि हरेक जीव की इन्द्रियाँ, गति, लेश्या, सुखदु:ख आदि बिलकुल अलग-अलग एवं स्वतन्त्र है । 'दूसरा जीव भी मेरे समान ही है'-इस प्रकार सहसंवेदन निर्माण करना, उनके बारे में अहिंसाभाव धारण करना, यही 'तत्त्वमसि' वाक्य की जैन फलश्रुति है ।

सारांश, उपनिषदों के आधारभूत, सारभूत, गृहीत वाक्यों में से जैन तत्त्वज्ञान को आत्मा का अस्तित्व एवं स्वरूप मान्य है । लेकिन शरीरधारी अलग-अलग जीवात्माएँ एवं विभु-ब्रह्म इन दोनों का लयात्मक सम्बन्ध एवं सिद्धान्त जैनों को बिलकुल मान्य नहीं है । किंबहुना, पूरे प्राचीन जैनग्रन्थों में एक बार भी 'ब्रह्म' इस शब्द का प्रयोग, उपनिषदों के अर्थ में पाया नहीं जाता ।

**सृष्ट्युत्पत्तिविषयक मान्यता :**

प्रमुख दस उपनिषदों का अवलोकन करते ही प्रमुखता से यह बात ध्यान में आती है कि दस में से सात उपनिषदों में सृष्टि की उत्पत्ति, उसका कर्ता, उत्पत्तिक्रम एवं पद्धति आदि के बारे में भिन्न-भिन्न विचार प्रवाह आविष्कृत हुए हैं । किंबहुना, सृष्टिविषयक विचार उपनिषदों के तत्त्वज्ञान का एक प्रमुख और अनिवार्य भाग है । विविध ऋषियों द्वारा रचित होने के कारण सृष्टिविषयक विचारों में वैचित्र्यमय विभिन्नता दृगोचर होती है ।

* **कठोपनिषत् :** तप के पहले जो उत्पन्न हुआ है, उदक आदि पंचमहाभूतों के पहले जो उत्पन्न हुआ है, प्राणिमात्रों के हृदयाकाश में याने गुहा में प्रवेश करके जो भूतों के समवेत रहता है, ऐसा हिरण्यगर्भरूपी तेज ब्रह्म है ।[३१]

* **प्रश्नोपनिषत् :** प्रजापति को प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा हुई । उसने तप किया । रयि (चन्द्र) और प्राण (सूर्य) यह मिथुन उत्पन्न किया । इस मिथुन से सब मूर्त-अमूर्त याने स्थूल-सूक्ष्म सृष्टि की उत्पत्ति हुई ।[३२]

* **मुण्डकोपनिषत् : १)** इन्द्रादि देवों में प्रथम विश्व का कर्ता, भुवनों का पालयिता ब्रह्मदेव उत्पन्न हुआ । सब विद्याओं का आश्रयस्थान होनेवाली ब्रह्मविद्या, उसने अपना ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को कथन की । --- विद्याएँ दो हैं, पराविद्या और अपराविद्या । --- पराविद्या वही है जिससे अविनाशी ब्रह्म प्राप्त होता है । --- वह ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म, क्षय से रहित और प्राणियों का उत्पत्तिकारक है ।[३३]

**२)** क्षयरहित ब्रह्म से विश्व उत्पन्न होता है । ज्ञान से ब्रह्म, वृद्धि को पाता है । उससे अन्न-प्राण-मन (संकल्प)-आकाश-भूतपंचक (सत्य)-भू आदि सप्तलोक-कर्म-कर्मफल (अमृत) उत्पन्न होता है ।[३४]

**३)** पराविद्या सत्य है । प्रदीप्त अग्नि से हजारों चिनगारियाँ उत्पन्न होती है तद्वत् अक्षरब्रह्म से नाना प्रकार के जीव (भाव) उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन होते है ।[३५]

**४)** उस उपाधिरहित अक्षरब्रह्म से प्राण, मन, इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, उदक और विश्व को धारण करनेवाली पृथ्वी - यह सब उत्पन्न होता है ।[३६]

* **तैत्तिरीयोपनिषत् : १)** तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः ।। आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः ।। अद्भ्यः पृथिवी ।। पृथिव्या ओषधयः ।। ओषधीभ्योऽन्नम् ।। अन्नात्पुरुषः ।। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः तस्येदमेव शिरः ।।[३७]

**२)** यह जगत् पहले 'असत्' (नामारूपादि रहित) था । उससे 'सत्' उत्पन्न हुआ । उसने अपने आपको निर्माण किया । उसे 'सुकृत' कहते हैं । वह सुकृत 'रस' है । रस पाकर आत्मा आनन्दित होता है ।[३८]

* **ऐतरेयोपनिषत् :** उत्पत्ति के पहले इस जगत् में सिर्फ आत्मा था । दूसरी कोई भी व्यापारवान् चीज नहीं थी । उसने विचार किया, 'मैं निर्माण करूँ' । उसने अम्भ, मरीचि, मर और आप ये चार लोक निर्माण किये । उसके बाद लोकपाल निर्माण किये । उसने उदक से एक पुरुष निकाला । उसे पिण्ड से युक्त किया । आत्मा ने उस पिण्डपुरुष की ओर देखा । यही उसका तप था । अवलोकन से पिण्डपुरुष से मुख उत्पन्न किया । मुख से वाणी, वाणी से अग्नि तथा नासिका उत्पन्न हुई । नासिका से प्राण फिर चक्षु, कर्ण, त्वचा, लोम, हृदय, मन, चन्द्रमा, नाभि, अपान, मृत्यु, शिश्न, रेत, उदक ।[३९]

* **छांदोग्योपनिषत् : १)** इस लोक का आश्रय आकाश है । स्थावर-जंगमादि सर्व भूतमात्र आकाश से उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही उनका अस्त होता है । अर्थात् परमात्मरूप आश्रयस्थान है ।[४०]

२) यह सब नामरूपादि विकारमय जगत् ब्रह्म है । क्योंकि यह जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है, ब्रह्म में लीन होता है । ब्रह्म में ही जीवित रहता है ।[४१]

३) आरम्भ में यह जगत् 'असत्' था । बाद में 'सत्' प्रवृत्त हुआ । उसके अनन्तर एक 'अण्डा' उत्पन्न हुआ । एक साल तक वह उसी अवस्था में रहा । अनन्तर फूट कर उसके दो भाग हो गये । रौप्यमय अर्धभाग पृथ्वी है और सुवर्णमय अर्धभाग स्वर्ग है । क्रम से आदित्य निर्माण हुआ । सर्व भूतमात्र और सर्व विषय आदित्य से उत्पन्न हुए ।[४२]

४) जगत् की उत्पत्ति के पहले एक अद्वितीय ऐसा 'सत्' ही था । वह एकमेवाद्वितीय था । उसने देखा (चाहा) कि, 'मैं बहुत होना चाहता हूँ ।' इसलिए उसने तेज उत्पन्न किया । तेज ने चाहा कि, 'मैं बहुत होना चाहता हूँ', इसलिए उदक का निर्माण हुआ । --- इसी प्रकार अण्डज, जीवज और उद्भिज्ज भूतों की उत्पत्ति हुई ।[४३]

* **बृहदारण्यकोपनिषत् : १)** सृष्टि के आरम्भ में कुछ नहीं था । यह सब मृत्यु से आवृत था । मृत्यु का दूसरा नाम है 'अशनाया' । उस अशनाया ने इच्छा की, कि मैं आत्मवान् हो जाऊँ । उसने मन निर्माण किया । वह अर्चन करता रहा । उससे उदक निर्माण हुआ । उस उदक पर जो मलई थी वह पृथ्वी हुई ।[४४]

२) सबसे पहले केवल आत्मा (प्रथमशरीरी प्रजापति) था । वह मस्तक-हस्तादि लक्षणों से युक्त पुरुष था । --- वह प्रजापति स्त्री-पुरुष रूप में परिणत हुआ । उन दोनों ने विविध प्रकार के रूप धारण करके सब द्विपद-चतुष्पद सृष्टि की निर्मिति की ।[४५]

३) सृष्टि के पहले केवल उदक था । उदक से क्रमपूर्वक सत्य-ब्रह्म-प्रजापति-देव-मनुष्य आदि की उत्पत्ति हुई ।[४६]

नमूने के तौर पर प्रस्तुत किये हुए उपरोक्त सृष्टिनिर्मिति सम्बन्धी विचार एकत्रित करने से विदित होता है कि वैदिक ऋषियों के प्राय: ये कल्पनाविष्कार हैं । सभी में एकवाक्यता पाने की कतई सम्भावना नहीं है । किम्बहुना एक उपनिषद के अन्तर्गत भी दो-तीन, अलग-अलग उत्पत्तिविषयक परिकल्पनाएँ मौजूद हैं ।

जैनदर्शन की स्वाभाविक प्रकृति ही यह है कि वह निर्मिति के सिद्धान्त के लिए, बिल्कुल ही अनुकूल नहीं है । 'सत् से असत्' और 'असत् से सत्' निर्माण नहीं हो सकता, यह जैन तत्त्वज्ञान की दृढ धारणा है । समूचा विश्व जैनों ने जीवतत्त्व याने चेतना और अजीवतत्त्व याने पुद्गलपरमाणु, इन दो राशियों में बाँटा है । तथापि जीव और पुद्गलों को किसने और कैसे निर्माण किया इनकी पुराणकथात्मक मिथककथाएँ कहीं भी नहीं पायी जाती । विश्व सत् रूप से सदैव अनादि काल से अवस्थित है । अनन्त काल तक रहेगा । सत् की व्याख्या में अस्तित्व रूप ध्रौव्य और पर्यायरूप से परिवर्तनशीलता अध्याहृत

है ।[४७] सृष्टिकर्ता कोई ब्रह्म, प्रजापति, ईश्वर आदि नहीं है । जीव और पुद्गल ये दोनों तत्त्व अनादिकाल से एक-दूसरे के सम्पर्क में है । अगर पूरे विश्व का विचार करे तो वह षड्द्रव्यों से युक्त है । उसमें से पाँच अस्तिकाय द्रव्य है । धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल-इन षड्द्रव्यों की अवस्थिति लोक में है ।[४८] इनके संयोग-वियोग से और परिणमन से विश्व में गतिमानता और नियन्त्रण दोनों सदैव उपस्थित हैं ।

काल के ओघ में सृष्टि की उत्पत्ति एवं विनाश को नकारनेवाला जैन तत्त्वज्ञान, सृष्ट्युत्पत्तिविषयक मिथक कथाओं से भरे हुए उपनिषदों से प्रभावित होना सर्वस्वी असम्भवनीय ही है ।

सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में जैनों की केवल अलग अवधारणा ही नहीं किन्तु उपनिषदों में निर्दिष्ट मत-मतान्तरों पर प्रतिक्रियात्मक टीका भी पायी जाती है । स्वसमय-परसमय पर आधारित सूत्रकृतांग में कहा है कि -

एवमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसिमाहियं ।
देवउत्ते अयं लोए, बंभउत्ते त्ति आवरे ।।
ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे ।
जीवाजीवसमाउत्ते, सुहदुक्खसमन्निए ।।
सयंभुणा कडे लोए, इति वुत्तं महेसिणा ।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए ।।
माहणा समणा एगे, आह अंडकडे जगे ।
असो तत्तमकासी य, अयाणंता मुसं वदे ।।
सएहिं परियाएहिं, लोयं बूया कडे त्ति य ।
तत्तं ते ण विजाणंति, ण विणासी कयाइ वि ।।[४९]

भावार्थ यह है कि समकालीन विचारवन्तों की सृष्टिनिर्मित कल्पनाओं में, 'सृष्टि किसी न किसी द्वारा निर्मित है', यह तथ्य अधोरेखित होता है, जो जैन तत्त्वज्ञान को मान्य नहीं है ।

जगत्कर्ता के रूप में देव (देवता), ब्रह्मा (प्रजापति), ईश्वर, प्रधान, स्वयम्भु, मार आदि को कथन करना सूत्रकृतांग के अनुसार मृषावाद का द्योतक है । किसी अण्डे से निर्मित जगत् को भी मृषाभाषण कहा है । इस विवेचन की अन्तिम गाथा में कहा है कि यद्यपि लोक अविनाशी है तथापि उसकी उत्पत्ति नहीं है, विनाश नहीं है, न कोई उसका कर्ता है न संहर्ता है । अर्थात् लोक अनादि-अनन्त है ।

सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के 'आर्द्रकीय' नामक छठे अध्ययन में पुरुष, जीव अर्थात् आत्मा को सर्वव्यापी और नित्य मानने में, जो मुख्य आपत्ति निर्माण होती है वह शब्दांकित की है । ४८ वी गाथा में स्पष्ट कहा है कि, आत्मा को एकान्ततः सर्वव्यापक मानने से, जीवात्माओं में भिन्नता नहीं रहेगी । मनुष्य, देव आदि गतियों में भेद नहीं रहेगा । जीव न मरेंगे, न संसारभ्रमण करेंगे, न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और प्रेष्य होंगे, न कीट, पक्षी और सर्प होंगे ।[५०]

प्रायः सभी उपनिषदों में ब्रह्म को 'विभु' याने व्यापक माना है । इस वजह से पुनर्जन्म सिद्धान्त में जो तार्किक आपत्ति उपस्थित होती है उसका जिक्र सूत्रकृतांग के इस गाथा में किया है ।

**दस उपनिषदों में उपस्थित कुछ तात्त्विक मतभेदों की समीक्षा :**

**१) ईश :** 'हिरण्मयेन पात्रेण --- ।' इस प्रसिद्ध वचन में कहा है कि, सत्य का मुख ढँका हुआ है । पूषन् को आवाहन किया है कि, 'सत्यधर्म के दर्शन के लिए तुम यह ढक्कन हटा दो'।[५१]

जैन अवधारणा के अनुसार सत्य नाम की कोई अलग चीज नहीं है । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये षड्द्रव्य ही सत् है । इसके अलावा जगत् की हरेक वस्तु, घटना तथा व्यक्ति अनन्तधर्मात्मक है ।[५२] शब्द की शक्ति मर्यादित है । इसलिए प्रत्येक उच्चारित वाक्य केवल नयात्मक अर्थात् अंशात्मक सत्य है । अनेकान्तवाद का भाषान्तर ही इस प्रकार किया जाता है - Jaina Theory of Multiple Facets of Reality and Truth.

**२) केन :** इस उपनिषद के प्रारम्भ में ही शान्तिमन्त्र में उपनिषदवर्णित 'ब्रह्म' का निर्देश है । परन्तु उसके वर्णन से लगता है कि यह कोई तत्त्व नहीं है व्यक्ति है । कहा है कि, 'ब्रह्म का मुझसे तिरस्कार न हो, ब्रह्म भी मेरा तिरस्कार न करे' ।[५३]

यद्यपि इसमें ब्रह्मतत्त्व का बोध अपेक्षित है तथापि लगता है कि यह ब्रह्मदेव को परिलक्षित करता है ।

जैनधर्म में हरेक जीव के प्रति मैत्रीभाव की वृद्धि तथा वैरभाव के शमन की इच्छा प्रकट की जाती है ।[५४] किसी तत्त्व के द्वारा तिरस्कार की बात नहीं कही गयी है ।

**३) कठ :** सुप्रसिद्ध 'यम-नचिकेत' संवाद में यम-नचिकेत को कहता है कि, 'सूक्ष्म धर्मतत्त्व के बारे में कुछ मत पूछो । दूसरा कोई भी वर माँगो । शतायुषी, पुत्र-पौत्र, हाथी-घोडे, विस्तीर्ण राज्य, इच्छानुसारी आयुष्य भी तुम माँगकर लो' ।[५५]

जैन कर्मसिद्धान्त के अनुसार जन्म-मरण की नियन्त्रक 'यम' नाम की कोई देवता नहीं है । सबकी आयुर्मर्यादा उनके-उनके आयुष्कर्म के अनुसार तय होती है । अनेक कारणों से आयु कम हो सकती है लेकिन किसी भी अवस्था में आयुर्मर्यादा बढायी नहीं जा सकती । वैसे भी धन-सम्पत्ति, पुत्र-पौत्रादि

ऐहिक सुख भी वेदनीयकर्म के विपाक पर और पुरुषार्थ पर अवलम्बित है । खास कर दीर्घायुष्य माँगा नहीं जा सकता और दिया भी नहीं जा सकता ।[५६]

**४) प्रश्न :** विदर्भ देश का भार्गव प्रश्न पूछता है कि, 'कौनकौनसे देव इन्द्रियों का प्रकाशन करते हैं और उनमें वरिष्ठ कौन है ?' पिप्पलाद मुनि कहते है कि, 'मन-चक्षु-श्रोत्र आदि इन्द्रियों को धारण करनेवाले देव आकाश, वायु, अग्नि, उदक, पृथ्वी और वाणी हैं' ।[५७]

जैन तत्त्वज्ञान में इन्द्रियविचार कुछ अलग ही तरीके से किया है । जगत् के सभी जीवों की वर्गवारी एक इन्द्रियवाले, दो इन्द्रियवाले इस प्रकार की है । मनुष्यप्राणी पाँच इन्द्रियाँ एवं मन से युक्त है । इन्द्रियाँ एवं सभी शरीर-मानस विशेषताएँ हरेक जीव को उसके 'नामकर्म' के अनुसार प्राप्त होती हैं ।[५८] इन्द्रियों का आधिपत्य वायु, अग्नि आदि देवताएँ नहीं करती । तात्त्विक मतभेद यहाँ इतना स्पष्ट है कि पृथ्वी, वायु, अग्नि देवताएँ ही नहीं है । ये सब पृथ्वीकायिक, वायुकायिक आदि जीवों के समूह रूप हैं ।[५९]

**५) मुण्डक :** मोक्षावस्था में चक्षु आदि सब इन्द्रियाँ अपने-अपने देवता की ओर जाते हैं । कर्म और विज्ञानमय आत्मा अत्यन्त श्रेष्ठ और व्ययरहित ब्रह्म में विलीन होते हैं ।[६०]

जैन अवधारणा के अनुसार मोक्षगामी जीव शरीररहित और कर्मरहित होकर शुद्ध चैतन्यस्वरूप हो जाता है । स्वाभाविक ऊर्ध्वगति के अनुसार लोकान्त के अग्रभाग में स्थित सिद्धशिला पर केवल अस्तित्व स्वरूप से निवास करता है ।[६१] मोक्षगामी जीव का हो या संसारी जीव का हो, शरीर और सभी इन्द्रियाँ पुद्गल याने परमाणुस्वरूप ही होती हैं । मृत्यु के उपरान्त वे कहीं गमन नहीं करती । दहन आदि क्रिया से भस्मीभूत स्वरूप में यहाँ अवस्थित होती है । हरेक संसारी जीव तैजस और कार्मण दोनों शरीर साथ में ही लेकर पुनर्जन्म धारण करता है ।[६२] उनके शरीरों के विलीन होने की कोई भी सम्भावना नहीं है ।

**६) माण्डुक्य :** इस उपनिषद में तथा अन्य भी उपनिषदों में 'जाग्रत्', 'स्वप्न', 'सुषुप्ति' और 'तुरीय' इन चार अवस्थाओं का विस्तृत वर्णन पाया जाता है । स्वप्न को, निद्रा भी कहा है । सुषुप्ति, स्वप्नरहित प्रगाढ निद्रा है । तुरीय मोक्षावस्था है । इन चारों अवस्थाओं की मनोविश्लेषणात्मक चिकित्सा उपनिषद की एक विशेषता है । खासकर सुषुप्ति अवस्था में जीवात्माद्वारा जो प्रज्ञानमय आनन्द पाया जाता है, उसका वर्णन उपनिषद समरसतापूर्वक करते हैं ।[६३]

जैन अवधारणा प्राय: इसके विपरीत ही है । निद्रावस्था का विशेष विचार 'दर्शनावरणीयकर्म' के अन्तर्गत किया जाता है । दर्शनावरणीय के नौं प्रकारों में से पाँच प्रकार निद्रा से सम्बन्धित हैं, जैसे - निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि ।[६४]

रूढ जैन मान्यताओं के अनुसार केवलज्ञान की अवस्था में दर्शनावरणीय कर्म का क्षय होता है । केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद अगर व्यक्ति जीवित रहता है तो वह बिलकुल नींद नहीं लेता । यह अवधारणा व्यावहारिक दृष्टि से ठीक नहीं जँचती तथापि निद्रा के पाँच प्रकारों में निहित मनोविश्लेषणात्मक वर्णन उपनिषद से भिन्न होकर भी खास लक्षणीय है ।

**७) तैत्तिरीय :** 'पंचकोश का सिद्धान्त' इस उपनिषद की विशेषता है । उपनिषदों के अभ्यासकों ने यह पंचकोशात्मक सिद्धान्त इतना अधोरेखित किया है कि उपनिषदों के प्रमुख सिद्धान्तों में से, वह एक बन गया है । ये पाँच कोश क्रम से अन्नमय-प्राणमय-मनोमन-विज्ञानमय और आनन्दमय नाम से प्रसिद्ध है ।[६५]

उपनिषद के पंचकोशात्मक वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि ये मानों पुरुष के याने जीवात्मा के एक के अन्दर एक होनेवाले पाँच कोश हैं तथा पहले से अनन्तर का कोश श्रेष्ठ है ।

जैन तत्त्वज्ञान में 'कोश' शब्द तो प्रयुक्त नहीं किया है लेकिन अलग पारिभाषिक शब्दों में पाँच कोश की उपपत्ति हम लगा सकते हैं । जैन परिभाषा में अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोश पुद्‌गलस्वरूप ही है क्योंकि बाह्यशरीर, प्राण और मन जैन अवधारणा के अनुसार पुद्‌गल के ही पर्याय हैं ।[६६] आत्मा में अनन्त चतुष्टय निहित है । उसमें ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सौख्य का निर्देश किया जाता है । उपनिषद कथित विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों की उपपत्ति, हम अनन्त चतुष्टय में निर्दिष्ट संकल्पनाओं के द्वारा सरलता से कर सकते हैं ।

उपनिषदों के अनुसार प्रत्येक पुरुष पाँच कोशों से परिपूर्ण है । जैन अवधारणा के अनुसार प्रत्येक जीव चाहे वह वनस्पति हो, कीट-पतंग हो, पशु-पक्षी हो या मनुष्य, क्रम से चार-पाँच और छह पर्याप्तियों से पूर्ण है । छह पर्याप्तियों का नामनिर्देश इसप्रकार किया जाता है - आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्‌श्वासपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति, मनपर्याप्ति ।

**८) ऐतरेय :** इसके दूसरे अध्याय में कहा है कि पुत्र उत्पन्न होने के बाद गृहस्थ (पिता) उसका वर्धन करता है । पुत्ररूप सन्तति का वर्धन खुद का ही वर्धन है क्योंकि लोकविच्छेद न होने के लिए, पुत्रादिरूप सन्तति आवश्यक है । सन्तति के रूप में पिता ही मानों दूसरी बार जन्म लेता है ।[६७]

गृहस्थाश्रम एवं गृहस्थों के कर्तव्यों को महत्त्व देकर वर्णन करना यह वैदिक या ब्राह्मण परम्परा की विशेषता है । 'पुत्ररूप सन्तति को जन्म देकर ही गृहस्थाश्रम की इतिकर्तव्यता होती है',-इस प्रकार की गृहस्थाश्रमनिष्ठ अवधारणा जैनग्रन्थों में नहीं पायी जाती । उत्तराध्ययन के चौदहवें 'इषुकारीय' अध्ययन में इस विचार की प्रतिक्रिया स्पष्ट रूप से दिखायी देती है । विवाह और सन्तानोत्पत्ति करने के लिए पुत्रों को प्रेरित करनेवाले पुरोहित को उसके विरक्तचित्त पुत्र कहते हैं कि -

वेया अहीया न भवंति ताणं, भुत्ता दिया निंति तमं तमेणं ।

जाया य पुत्ता न हवंति ताणं, को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ।।१२।।

''आश्रमधर्म का क्रमपूर्वक पालन करना अनिवार्य नहीं है । उसके अपवाद भी हो सकते हैं''-इस तथ्य को यह गाथा अधोरेखित करती है ।

**९) छांदोग्य :** इस उपनिषद के सातवें अध्याय में 'नारद-सनत्कुमार' संवाद अंकित किया है । इस प्रदीर्घ संवाद में एक से एक श्रेष्ठ बातों की एक दीर्घ शृंखला प्रस्तुत की है । कहा है कि - नाम से वाणी श्रेष्ठ है । वाणी से मन श्रेष्ठ है । इस प्रकार संकल्प-चित्त-ध्यान-विज्ञान-बल-अन्न-उदक-तेज-आकाश-स्मरण-आशा-प्राण-सत्य ये सब उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने हैं ।

श्रेष्ठता पर आधारित इस प्रकार की अर्धतार्किक और अतार्किक सारणियाँ प्राचीन जैन ग्रन्थों में पायी नहीं जाती । केवल इसी उपनिषद में ही नहीं किन्तु अन्यत्र भी कनिष्ठता-श्रेष्ठता पर आधारित वैचारिक शृंखलाएँ पायी जाती हैं ।[६८]

**१०) बृहदारण्यक :** इस उपनिषद में चातुर्वर्ण्य की उत्पत्ति, उनकी श्रेष्ठ-कनिष्ठता एवं देवों में चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था, इन सबके बारे में एक प्रदीर्घ विवेचन है । आरम्भ में कहा है कि (ब्राह्मणाभिमानी) ब्रह्म से पहले ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई ।[६९]

जैन परम्परा में जन्मजात वर्णव्यवस्था को कहीं भी मान्यता नहीं दिखायी देती । जो भी वर्ण हैं, वे सब कर्म के अनुसार ही दिये गये हैं । उत्तराध्ययन के पच्चीसवें अध्ययन के सुप्रसिद्ध गाथा में कहा है कि -

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।

न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ।।२९।।

समयाए समणो होई, बंभचेरेण बंभणो ।

नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ।।३०।।

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।

वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ।।३१।।

नमूने के तौर पर दिये हुए उपरोक्त तात्त्विक समीक्षा से यह तथ्य उजागर होता है कि मोक्ष एवं आत्मासम्बन्धी अवधारणाओं में साम्य होने के बावजूद भी, अनेक तात्त्विक एवं सामाजिक मुद्दों में, उपनिषद और जैन परम्परा में अत्यन्त मूलगामी भेद हैं ।

**जैनदर्शन की सुघटित कथन पद्धति :**

* **ज्ञानमीमांसा :** प्राचीन जैनग्रन्थों में मति–श्रुत–अवधि–मन:पर्याय एवं केवलज्ञान ये ज्ञान के पाँच प्रकार, उनका प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों में विभाजन, प्रत्येक के प्रकार–उपप्रकार तथा उन प्रकार–उपप्रकारों का अन्तर विस्तृतरूप से बताया है । तत्त्वार्थ जैसे दार्शनिक ग्रन्थ में ही नहीं किन्तु उपनिषद के प्राय: समकालीन जैनग्रन्थों में भी (जैसे व्याख्याप्रज्ञप्ति, उत्तराध्ययन आदि) ज्ञानमीमांसा सुगठित रूप से अंकित की हुई है ।

यद्यपि उपनिषद ज्ञानकाण्ड है तथापि ज्ञान संकल्पना की सुव्यवस्थित रचना यहाँ नहीं पायी जाती । कुछ प्रासंगिक पारिभाषिक शब्दों के अलावा जादा स्पष्टीकरण दिखायी नहीं देता । वे शब्द मुख्यत: इस प्रकार के हैं – ज्ञान, विज्ञान, पराविद्या, अपराविद्या, अज्ञान, अविद्या इ. ।

* **कर्मसिद्धान्त और पुनर्जन्म :** जैनों का पुनर्जन्मसिद्धान्त सम्पूर्णतया कर्मसिद्धान्त से जुडा हुआ है और कर्मसिद्धान्त से निष्पन्न है । मन–वचन–काया की प्रत्येक क्रिया कर्म है । कर्म पुद्गलमय है । कषाय और योग के माध्यम से सूक्ष्मतम कर्मवर्गणाओं का आत्मा के साथ बन्ध होता है । बन्ध के मुख्य चार प्रकार, प्रकृतिबन्ध के मुख्य आठ प्रकार आदि अनेक प्रकार–उपप्रकारों से पूरा कर्मसिद्धान्त पुष्पित–फलित हुआ है । श्वेताम्बर–दिगम्बर दोनों ने करीबन ५० प्रमुख ग्रन्थ ऐसे लिखे हैं जिनका मुख्य विषय कर्मसिद्धान्त है । सृष्टिकर्ता ईश्वर नकारने के कारण स्वयंचलित कर्मसिद्धान्त को जैनदर्शन में अनन्यसाधारण महत्त्व है ।

उपनिषदों में खोजकर भी कर्मसम्बन्धी विवेचन अत्यल्प मात्रा में पाया जाता है । ‘जैसा कर्म करे, वैसा फल मिलता है’, इतनाही सामान्य स्वरूप इसमें दिखायी देता है । शुभ और अशुभ कर्म, पाप–पुण्य संकल्पना, सत्कृत्य और सदाचरण से देव और मनुष्यजन्म, दुष्कृत्य करनेवालों को तिर्यंचजन्म – इस प्रकार के मर्यादित विचार उपनिषद में पाये जाते हैं । ईशोपनिषद् में ‘न कर्म लिप्यते नरे ।’ तथा ‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समा: ।’[७०] इसी प्रकार बृहदारण्यक में कहा है कि, ‘यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ।’[७१] कर्मसम्बन्धी इन विचारों पर अगर दृष्टिपात करे तो दिखायी देता है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से ये वचन मात्र सामान्य है, सुभाषितपर है ।

* **नीतिशास्त्र :** जैनों की विशेषता है कि उन्होंने मोक्षमार्ग के तीन समन्वित घटक (रत्न) बताये हैं । उनका तीसरा घटक चारित्र है । चारित्र का मतलब है नीति और अध्यात्म के अनुकूल वर्तन । साधुचारित्र मुख्यत: अध्यात्मप्रधान है । श्रावकों का चारित्र प्राय: मूलगामी नीतितत्त्वों से पूरी तरह भरा हुआ है । पाच सुप्रसिद्ध महाव्रतों पर आधारित अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रतों पर आधारित गृहस्थधर्म अनेक उच्च नैतिक मूल्यों को उजागर करता है ।

विविध उपनिषदों में निहित संवादों में, उपनिषदों का नीतिशास्त्र बिखरे हुए स्वरूप में पाया जाता है । तैत्तिरीय उपनिषद का, 'सत्यं वद, धर्मं चर --- मातृदेवो भव, पितृदेवो भव --- यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि'[७२] -यह नीतिउपदेश बहुत ही प्रसिद्ध है । बृहदारण्यक उपनिषद में निहित दान, दमन और दया पर आधारित उपदेश भी वारंवार उद्‌धृत किया जाता है । बृहदारण्यक का याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद मूल्याधिष्ठित संवाद का चरमोत्कर्ष है । छांदोग्योपनिषद में कहा है कि, 'व्यसन-चौर्य-सुरापान-गुरुस्त्रीसंभोग-ब्रह्मज्ञानी को मारनेवाला, इन सबको अधोलोक की प्राप्ति होती है ।'

जैन तत्त्वज्ञान में और उपनिषदों में निहित नीतिमूल्यों का सारासार दृष्टि से अगर विचार करें तो हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि, दोनों की अलग-अलग विशेषताएँ हैं । लेकिन, 'जैन चारित्राराधना उपनिषदों से प्रभावित है', इस प्रकार का विधान हम नहीं कर सकते ।

* **लोकसंकल्पना :** दोनों परम्पराओं में त्रैलोक्य की अवधारणा कायम है परन्तु जैनों में ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक इन तीन लोकों का विस्तार, प्रमाण एवं विभाग व्यवस्थित रूप से दिया है । स्वर्ग के पटल और नरकों के बिल इन दोनों की संख्या, उत्तरोत्तर श्रेष्ठ-कनिष्ठता विस्तृत रूप में वर्णित है । मध्यलोक को मनुष्यलोक कहा है । उसके बीचों बीच स्थित त्रसनाडी में मनुष्य और तिर्यंचों का अस्तित्व कहा है । जीवों की चार गतियाँ मानी है । कौनकौनसे कर्मों से, कौनकौनसे गतियों का बन्ध होता है, इसका भी वर्णन है ।

उपनिषदों में नरक की अवधारणा कहीं भी स्पष्ट रूप से नहीं पायी जाती । उनके अनुसार लोक तीन हैं - देवलोक, पितृलोक और मनुष्यलोक । इन लोकों के प्रति ले जानेवाले तीन मार्ग या यान भी वर्णित है, वे हैं - देवयान, पितृयाण और मनुष्ययान । पितृलोक, पितृयाण तथा पितर और श्राद्धविधि का उल्लेख उपनिषदों की विशेषता है ।[७५] जैन तत्त्वज्ञान में पिण्ड, श्राद्ध, पितर इनमें से किसी को भी स्थान नहीं दिया है । विशेष कथनीय यह है कि ऋग्वेद से लेकर पुराणों तक पितृ, पिण्ड एवं श्राद्ध ये संकल्पनाएँ अविरत रूप से दिखायी देती हैं । इस संकल्पनाओं का तनिक भी प्रभाव जैनग्रन्थों में दिखायी नहीं देता ।

**उपसंहार और निष्कर्ष :**

* निबन्ध की प्रस्तावना में, शोधनिबन्ध के शीर्षक में निहित गृहीतक की समीक्षा की है । निबन्ध का मुख्य प्रयोजन है कि, 'उपनिषदों का तत्त्वज्ञान एवं जैन प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों में निहित तत्त्वज्ञान'- इनकी तुलना करके, उपनिषदों का जैन तत्त्वज्ञान पर प्रभाव है या नहीं ; अगर है तो कौनसे मुद्दों में हैं ? और अगर नहीं है तो उनके तात्त्विक मतभेद भी सामने लाना ।

* प्रारम्भ में स्पष्ट किया है कि यद्यपि छह वैदिकदर्शनों का मूलाधार उपनिषद हैं तथापि जैन तत्त्वज्ञान में कभी भी उपनिषदों को सामने रखकर अपनी तत्त्वप्रणाली और आचार प्रस्तुत नहीं किया है ।

* ऐतिहासिकता की दृष्टि से यह बताया है कि प्राचीन प्राकृत आगम और उपनिषद सामान्यत: तुलनीय हैं ।

* शीर्षक में निहित प्रभाव का प्रारूप प्राय: दोनों के शैलीगत साम्य के कारण है । आचारांगसूत्र का आत्मवर्णन और कठोपनिषद का आत्मवर्णन आश्चर्यकारक तरीके से साम्य रखता है । अन्तर केवल भाषा का ही है । संवाद, गद्य-पद्य की मिश्रता, गद्य में निहित लयबद्धता, समीकरणात्मक गोल वृत्ताकार वाक्यरचना, उपमा, दृष्टान्त एवं रूपकों की भरमार - ये सब शैलीगत साम्य के मुख्य मुद्दे हैं । आत्मा एवं मोक्षवर्णन की प्रधानता तथा शैली का बहिरंग साम्य उनके समकालीन होने का द्योतक है, न कि किसी के किसी पर प्रभाव का ।

* उपनिषद संज्ञा में अन्तर्भूत गूढवाद, कई उपनिषद्गत वाक्यों में अंकित है । इसके बिल्कुल विपरीत पद्धति जैन तत्त्वज्ञान की है । समग्र विश्व के विश्लेषण पर आधारित जैन तत्त्वज्ञान, वास्तववादी है और सबके लिए खुला है ।

* एक और महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि उपनिषद में निहित ज्ञानकाण्ड, वैदिक कर्मकाण्ड के प्रतिक्रिया स्वरूप है । निर्ग्रन्थ तत्त्वज्ञान स्पष्टत: प्रतिक्रियात्मक नहीं है । षड्द्रव्य, नवतत्त्वों की अवधारणाएँ, नि:संशय मूलगामी है ।

* सर्वं खलु इदं ब्रह्म । अयमात्मा ब्रह्म । अहं ब्रह्मास्मि । तत्त्वमसि । - इन चार मूलाधार उपनिषद वाक्यों की समीक्षा, शोधनिबन्ध में यथास्थान अन्तर्भूत की है । सारांश में हम कह सकते हैं कि विभु-ब्रह्म की संकल्पना जैन तत्त्वज्ञान के ढाँचे में नहीं ठीक बैठती । 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग जैन तत्त्वज्ञान में कही नहीं पाया जाता ।

* 'सृष्टि की उत्पत्ति किसी के द्वारा होना'-यह प्रमुख दस उपनिषदों में एक नि:संदिग्ध गृहीतक है । शोधनिबन्ध में सृष्ट्युत्पत्तिविषयक १०-१२ अलग-अलग मान्यताएँ सन्दर्भसहित दी हैं । उनकी अन्तर्गत विसंगति को देखकर हम कह सकते हैं कि ये वैदिक ऋषियों के प्राय: कल्पनाविष्कार हैं । इन मतमतान्तरों पर सूत्रकृतांग नामक ग्रन्थ ने उपस्थित की हुई प्रतिक्रिया निबन्ध में दी है । जैन दृष्टि से त्रैलोक्य अविनाशी है तथापि उसकी उत्पत्ति नहीं है, विनाश नहीं है, उसका कोई कर्ता-संहर्ता नहीं है अर्थात् वह अनादि-अनन्त है ।

* जो तात्त्विक अवधारणाएँ जैन तत्त्वज्ञान को बिल्कुल ही संमत नहीं हैं, उनकी समीक्षा निबन्ध में बहुत ही विस्तार से की है । 'ईशोपनिषद' में निर्दिष्ट सत्य के ऊपर का हिरण्यमय ढक्कन, 'केन' में निर्दिष्ट ब्रह्मद्वारा तिरस्कार, 'कठोपनिषद' के यम-नचिकेत संवाद में निहित इच्छानुसारी दीर्घायु की

कामना और 'मण्डुकोपनिषद' में निर्दिष्ट इन्द्रियों की अधिष्ठात्री देवताएँ, 'तैत्तिरीय' में निर्दिष्ट अन्नमय, प्राणमय आदि पंचकोश का सिद्धान्त, 'ऐतरेय' में कथित पुत्रसन्तति का महत्त्व, 'बृहदारण्यक' में निर्दिष्ट चातुर्वर्ण्यविषयक मान्यता – इन सभी मुद्दों के बारे में उपनिषद और जैन परम्परा में अत्यन्त मूलगामी भेद हैं ।

* ज्ञानमीमांसा, कर्मसिद्धान्त-पुनर्जन्म और त्रैलोक्य संकल्पना जैन तत्त्वज्ञान में अत्यन्त सुघटित, व्यवस्थित रूप में अंकित है । इन तीनों के बारे में उपनिषद में बिखरे हुए छुटपुट विचार, इधर-उधर प्रसंगोपात्त प्रकट करते हैं ।

* दोनों में निहित नीतिशास्त्रविषयक मूल्यों में हम तर-तम भाव तो नहीं कर सकते लेकिन, 'जैनों की समग्र चारित्राराधना, उपनिषदों से प्रभावित है'-इस प्रकार का विधान हम हरगीज नहीं कर सकते । यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि ऋग्वेद से लेकर पुराणों तक पितृ, पिण्ड एवं श्राद्ध ये संकल्पनाएँ अविरत रूप से दिखायी देती है । इस संकल्पना का तनिक भी प्रभाव जैनग्रन्थों में दिखायी नहीं देता ।

* वैदिक परम्परा के दस प्रमुख उपनिषद और प्राकृत भाषा में निबद्ध प्राचीन जैन आगम इन दोनों की सूक्ष्मेक्षिका के से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि 'आत्मा' का वर्णन और मानवी आयुष्य के अन्तिम गन्तव्य 'मोक्ष' इन दोनों भारतीय आध्यात्मिक अवधारणाओं का विचार उपनिषद और जैन तत्त्वज्ञान ने किया है । निर्ग्रन्थ याने जैन परम्परा श्रमणधारा का प्राचीनतम आविष्कार है जो वैदिक उपनिषद्गत धारा से कई दृष्टि से विभिन्न है । अगर हमें तुलना करनी ही है तो, उपनिषदों की तुलना 'ऋषिभाषित' नाम के आर्ष प्राकृत में लिखित जैन प्रकीर्णक ग्रन्थ से की जा सकती है । ऋषिभाषित में ४५ आर्हत् ऋषियों के विचार, जैन परम्परा ने अंकित किये हैं । उनमें से लगभग ३० ऋषि वैदिक परम्परा से सम्बन्धित हैं । याज्ञवल्क्य, उद्दालक, आरुणि आदि कई वेदकालीन ऋषियों के विचार इस ग्रन्थ में सुरक्षित हैं । उसी ग्रन्थ के पार्श्वनाथ और वर्धमान महावीर के विचारों की तुलना करके भी हम कह सकते हैं कि, उपनिषद और जैन तत्त्वज्ञान की विचारधाराएँ अलग-अलग हैं ।

**********

**सन्दर्भ**

१) आचारांग (१), पृ.२०६,२०७
२) कठोपनिषत्, पृ.४२ से ५४
३) कठोपनिषत्
४) छांदोग्योपनिषत्
५) बृहदारण्यकोपनिषत्
६) छांदोग्योपनिषत्
७) आचारांग (१), पृ.७४
८) आचारांग (१), पृ.७७
९) तैत्तिरीयोपनिषत्, पृ.१८५

१०) बृहदारण्यकोपनिषत्, पृ.५३६
११) आचारांग (१), पृ.९६
१२) आचारांग (१), पृ.१३८
१३) तैत्तिरीयोपनिषत्, पृ.१९०,१९१
१४) ऐतरेयापनिषत्, पृ.१९९
१५) स वा अयमात्मा रथनाभौ च रथनेमौ चारा: सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवा: सर्वे लोका: सर्वे प्राणा: सर्व एत आत्मान: समर्पिता: । बृहदारण्यकोपनिषत्, पृ.६१५,६१६
१६) कुव्वंतस्स वि जत्तं तुंबेण विणा ण ठंति जह अरया ।
अरएहिं विणा य जहा णट्ठं णेमी चक्कस्स ।।
तह जाण अहिंसाए विणा ण सीलाणि ठंति सव्वाणि । भगवती आराधना, गा.७८६, ७८७
१७) यथोर्णनाभि: सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधय: संभवन्ति ।।
यथा सत: पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम् ।। मण्डुकोपनिषत्, पृ.११२
१८) वेढेइ विसयहेदुं कलत्तपासेहिं दुव्विमोएहिं ।
कोसेण कोसियारुव्व दुम्मदी णिच्च अप्पाणं ।। भगवती आराधना, गा.९११
१९) अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।। कठोपनिषत्, पृ.४७
२०) भगवती आराधना, गा.७८३
२१) के ते जोई के व ते जोइठाणा, का ते सुया किं व ते कारिसंगं ?
एहा य ते कायरा संति भिक्खू, कयरेण होमेण हुणासि जोइं ? ।।
तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं ।
कम्मेहा संजमजोगसंती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ।। उत्तराध्ययन १२.४३,४४ ; १४.८ से १२ ; २५ वा 'यज्ञीय' नामक अध्ययन
२२) छांदोग्योपनिषत्, पृ.२८५ से २८९
२३) बृहदारण्यकोपनिषत्, पृ.६२५ से ६२७
२४) ईशावास्योपनिषत्, पृ.७
२५) केनोपनिषत्, पृ.२२
२६) कठोपनिषत्, पृ.४३
२७) कठोपनिषत्, पृ.४९
२८) सद् द्रव्यलक्षणम् । उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । तत्त्वार्थसूत्र ५.२९
२९) नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे । चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ।। उत्तराध्ययन २८.३५
३०) छांदोग्योपनिषत्, पृ.३१०,४२२ ; भारतीय तत्त्वज्ञान, पृ.६६
३१) कठोपनिषत्, पृ.५८
३२) प्रश्नोपनिषत्, पृ.७९
३३) मुण्डकोपनिषत्, पृ.११० से ११२
३४) मुण्डकोपनिषत्, पृ.११३
३५) मुण्डकोपनिषत्, पृ.११९
३६) मुण्डकोपनिषत्, पृ.१२०
३७) तैत्तिरीयोपनिषत्, पृ. १६७,१६८
३८) तैत्तिरीयोपनिषत्, पृ. १७७
३९) ऐतरेयोपनिषत्, पृ.२०१,२०२
४०) छांदोग्योपनिषत्, पृ.२४५
४१) छांदोग्योपनिषत्, पृ.३१०
४२) छांदोग्योपनिषत्, पृ.३२४
४३) छांदोग्योपनिषत्, पृ.४०७,४०८
४४) बृहदारण्यकोपनिषत्, पृ.५१५
४५) बृहदारण्यकोपनिषत्, पृ.५३७ से ५४१
४६) बृहदारण्यकोपनिषत्, पृ.७५१
४७) तत्त्वार्थसूत्र ५.२९
४८) धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल-जंतवो ।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ।। उत्तराध्ययन २८.७
४९) सूत्रकृतांग (१), अध्ययन १, उद्देशक ३, गाथा ५ से ९, पृ.२०,२१
५०) अव्वत्तरूवं पुरिसं महंतं, सणातणं अक्खयमव्वयं च ।
सव्वेसु भूतेसु वि सव्वतो से, चंदो व ताराहिं समत्तरूवे ।।
एवं ण मिज्जंति ण संसरंति, ण माहणा खत्तिय वेस वेसा ।
कीडा य पक्खी य सरीसिवा य, नरा य सव्वे तह देवलोगा ।। सूत्रकृतांग (२), अध्ययन ६, गा.४७,४८
५१) ईशावास्योपनिषत्, पृ.७
५२) तत्त्वार्थसूत्र ५.३७ और उसकी टीका
५३) केनोपनिषत्, पृ.१०

५४) मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ । वंदित्तुसुत्त ४८
५५) कठोपनिषत्, पृ.३५
५६) तत्त्वार्थसूत्र २.५२ और उसकी टीका
५७) प्रश्नोपनिषत्, पृ.८५
५८) तत्त्वार्थसूत्र ८.१२
५९) पृथिव्याम्बुवनस्पतयः स्थावराः । तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः । तत्त्वार्थसूत्र २.१३,१४
६०) मुण्डकोपनिषत्, पृ.१३६
६१) तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् । तत्त्वार्थसूत्र १०.५
६२) विग्रहगतौ कर्मयोगः । तत्त्वार्थसूत्र २.२६
६३) माण्डुक्योपनिषत्, पृ.१४१
६४) तत्त्वार्थसूत्र ८.८
६५) तैत्तिरियोपनिषत्, पृ.१८२
६६) शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् । तत्त्वार्थसूत्र ५.१९
६७) ऐतरेयोपनिषत्, पृ.२११
६८) छांदोग्योपनिषत्, पृ.४३९ से ४६५
६९) बृहदारण्यकोपनिषत्, पृ.५४९ से ५५२
७०) ईशोपनिषत्, पृ.२
७१) बृहदारण्यकोपनिषत्, पृ.७२३
७२) तैत्तिरियोपनिषत्, पृ.१६१,१६२
७३) बृहदारण्यकोपनिषत्, पृ.७४९
७४) छांदोग्योपनिषत्, पृ.३८४
७५) दहा सार्थ उपनिषद, पृ.५५,७०,८८,४७८,७५५

*********

## सन्दर्भ–ग्रन्थ–सूचि

१) आचारांग : वाचना प्रमुख, आ.तुलसी, सं.मुनि नथमल, जैन विश्वभारती प्रकाशन, वि.सं.२०३१
२) इसिभासियाइं सुत्ताइं : सं.महोपाध्याय विनयसागर, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, १९८८
३) उत्तरज्झयणाणि : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान), १९९७
४) उपनिषदों में संन्यासयोग–समीक्षकात्मक अध्ययन : ईश्वर भारद्वाज, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, १९९३
५) तत्त्वार्थसूत्र : विवेचक, पं.सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, २००७
६) दहा सार्थ उपनिषद : सं.हरि रघुनाथ भागवत, 'वरदा' सेनापती बापट मार्ग, पुणे, १९९५
७) भगवती आराधना : शिवार्य, अपराजितसूरिरचित विजयोदया टीका, सं.पं.कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, फलटण, १९९०
८) भारतीय तत्त्वज्ञान : श्रीनिवास हरि दीक्षित, फडके प्रकाशन, कोल्हापूर, १९९६
९) सूत्रकृतांगसूत्र : अनुवादक, अमोलकऋषि, श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धुलिया, २००२

*********